15 TUESDAY

हिन्दू सामाजिक संगठन के परम्परागत आधार

हिन्दू समाज में करीब चार हजार वर्ष पूर्व ही कुछ समाज चिन्तकों ने यह अनुभव किया कि व्यक्ति और समाज की प्रगति उस समय तक सम्भव नहीं है जब तक लोगों को जीवन के मूलभूत तथ्यों से परिचित नहीं कराया जाता, जब तक उन्हें अपने कर्तव्यों का निर्वाह करने हेतु उन्हें कोई प्रेरणा प्रदान नहीं की जाती। सामाजिक जीवन को संगठित बनाये रखने की दृष्टि से यह सब कुछ आवश्यक समझा गया। लोगों के सम्मुख ऐसा जीवन दर्शन रखा गया और इस प्रकार की सामाजिक योजना बनायी गयी जिसने सामाजिक जीवन को संगठित बनाये रखने में योग दिया। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु भारतीय समाज को दो प्रमुख आधारों पर संगठित किया गया, दार्शनिक एवं संगठनात्मक आधार।

भारतीय समाज के आधार

1. दार्शनिक आधार
   - मौलिक विशेषताएं
   - धर्म
   - पुरुषार्थ
   - कर्म तथा पुनर्जन्म
   - ऋण तथा यज्ञ
   - संस्कार
2. संगठनात्मक आधार
   - मौलिक विशेषताएं
   - वर्ण व्यवस्था
   - आश्रम व्यवस्था
   - जाति व्यवस्था
   - संयुक्त परिवार

Notes

दार्शनिक आधार के अन्तर्गत उन सिद्धान्तों को महत्ता प्रदान की गयी जिन्होंने व्यक्ति के जीवन को परिष्कृत कर उसे उसके लक्ष्यों एवं कर्तव्यों से परिचित कराने में योग दिया। संगठनात्मक आधार के अन्तर्गत वे सामाजिक योजनाएं आती हैं, जिनके माध्यम से व्यक्ति और समूह के जीवन को इस प्रकार विभिन्न इकाइयों में बांटा गया कि उनकी योग्यता और कार्यक्षमता का पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सके।

(1) दार्शनिक आधार → इनमें चार आधार प्रमुख हैं।

(i) धर्म (Dharma) → हिन्दू सामाजिक जीवन मे धर्म का प्रमुख स्थान है। हिन्दुओं में चार पुरुषार्थ अर्थात कर्तव्य माने गये हैं, - धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष। इस प्रकार धर्म की पूर्ति मानव का सर्वोपरि कर्तव्य है। धर्म के भी यहां अनेक स्वरूप पाये जाते हैं, जैसे- सामान्य धर्म, विशिष्ट धर्म, राज धर्म, मित्र धर्म, कुल धर्म गुरु धर्म आदि। धर्म ने व्यक्ति और समाज के नियन्त्रण में महत्व पूर्ण भूमिका निभायी है।

(ii) पुरुषार्थ → पुरुषार्थ सिद्धान्त के द्वारा व्यक्ति के जीवन के चार प्रमुख लक्ष्यों को स्पष्ट किया गया है— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन्हे ही पुरुषार्थ माना गया है। जिन्हे प्राप्त करने का प्रयत्न व्यक्ति करता है। धर्म का अर्थ → नैतिक कर्तव्य और नियमों का पालन है ताकि व्यक्ति एवं समाज दोनों का विकास हो सके। धर्म आत्म-संयम, सन्तोष, दया, उदारता, क्षमा, अहिंसा एवं कर्तव्य-पालन आदि गुणों को ग्रहण करने को प्रेरित करता है। अर्थ का तात्पर्य → उन सभी साधनों से है, जिनकी सहायता से हम अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। काम का तात्पर्य → केवल यौन-सन्तुष्टि ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक दृष्टि से जीवन के आनन्द का उपभोग भी है। यह मनुष्य की प्राणिशास्त्रीय आवश्यकता की पूर्ति, सन्तानोत्पत्ति द्वारा माता-पिता के ऋण से उऋण होने और समाज की निरन्तरता को बनाये रखता है। उपर्युक्त प्रथम तीन पुरुषार्थों को प्राप्त करने के पश्चात व्यक्ति चौथे पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति का प्रयत्न करता है। जिसका अर्थ पूर्ण सन्तुष्टि की स्थिति है। एवं जीवन-
Notes मरण के बन्धनों से मुक्ति।

(iii) कर्म तथा पुनर्जन्म → भारतीय समाज में व्यक्ति को संसार से विरक्त होने का उपदेश नहीं दिया गया बल्कि संसार में रहते हुए फल की इच्छा किये बिना कर्म करते रहने या दायित्व निर्वहन पर जोर दिया गया। यह सिद्धान्त व्यक्ति में नैतिक उत्तरदायित्व एवं कर्तव्य बोध की भावना विकसित करता है। इसमे पुनर्जन्म की धारणा को कर्मों का फल माना गया अर्थात अच्छा काम हेतु अच्छा व बुरा कर्म हेतु बुरा फल।

(iv) ऋण तथा यज्ञ → हिन्दू जीवन व्यवस्था में व्यक्ति पर पाँच प्रकार के ऋण

ऋण माने गये → देव ऋण, ऋषि ऋण, पितृ-ऋण, अतिथि ऋण, तथा भूत ऋण। व्यक्ति जो कुछ है, उसका जैसा भी विकास हुआ है, उसने जो कुछ प्राप्त किया है उसके लिए वह इनका ऋणी है। अपने दायित्वों का निर्वाह करके ही वह ऋणों से छुटकारा प्राप्त कर सकता है। इसी हेतु पंच महायज्ञों की व्यवस्था की गयी है। यहां यज्ञ का तात्पर्य अन्य के प्रति दायित्व-निर्वाह एवं कर्तव्यों की पूर्ति से है।

(2) संस्कार → संस्कार का तात्पर्य शुद्धिकरण की प्रक्रिया से है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति को सामाजिक प्राणी बनाने, उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने तथा उसकी नैसर्गिक प्रवृत्तियों को समाजपयोगी बनाने के लिए व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक और नैतिक परिष्कार आवश्यक माना गया है। परिष्कार या शुद्धिकरण की पद्धति को ही यहां संस्कार की संज्ञा दी गयी है। प्रमुख 16 संस्कार माने गये हैं जिनका उद्देश्य एक विशेष स्थिति और आयु में व्यक्ति को उसके सामाजिक कर्तव्यों का ज्ञान कराना है।

(2) संगठनात्मक आधार :— उपर्युक्त दार्शनिक आधारों के अनुरूप भारतीय समाज को संगठित करने के उद्देश्य से यहां कुछ ऐसी सामाजिक व्यवस्थाओं को निर्मित किया गया जो व्यक्ति और समाज दोनों के सर्वांगीण विकास में योग दे।

(i) वर्ण व्यवस्था → यहां आर्थिक आधार के बजाय व्यक्ति के गुण तथा स्वभाव के आधार पर समाज को चार वर्णों

Notes

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र में विभाजित किया गया। जिनमें ब्राह्मण की स्थिति सबसे उच्च थी। प्रत्येक वर्ण के अधिकार, दायित्व और व्यवसाय एक-दूसरे से भिन्न थे। प्रारम्भ में जन्म पर आधारित न होकर गुण तथा स्वभाव पर आधारित होने के कारण व्यक्ति वर्ण परिवर्तन सम्भव था। व्यक्ति अपने व्यवहार से किसी उच्च या निम्न वर्ण का सदस्य हो सकता था। परन्तु यह मुक्त प्रणाली उतनी भी सरल नहीं थी जितना समझा जाता था।

(ii) आश्रम व्यवस्था → वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य समाज के जीवन को

और आश्रम-व्यवस्था का उद्देश्य व्यक्ति के जीवन को सन्तुलित एवं संगठित बनाये रखना था। इस-व्यवस्था के माध्यम से व्यक्ति के जीवन में भोग, त्याग दोनों के महत्व को स्वीकारा गया। इसमें व्यक्ति की आयु को 100 वर्ष मानकर उसे 25-25 वर्ष के चार भागों में विभाजित किया गया है - (i) ब्रह्मचर्य आश्रम (ii) गृहस्थ आश्रम (iii) वानप्रस्थ आश्रम (iv) सन्यास आश्रम।

अपनी आयु के प्रथम 25 वर्ष ब्रह्मचर्य आश्रम में बिताकर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास करता था, अपने आप में सद्गुणों को विकसित करता था, शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक दृष्टि से अपने को सबल बनाता था। फिर वह विवाह संस्कार के द्वारा गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था, जहां वह धर्म की मर्यादा के अनुरूप अर्थ और काम का उपभोग करता, धन कमाता और अपनी काम-इच्छाओं की पूर्ति करता हुआ सन्तानोत्पत्ति करता था। 50 वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने पर वह वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता। जहां सम्पूर्ण समाज के कल्याण हेतु कार्य करता है। ज्ञान का प्रसार और समाज की सांस्कृतिक परम्पराओं को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करता तथा योग्य व्यक्तियों के निर्माण में योग देता हुआ आध्यात्मिक चिन्तन में अपने आपको लगा देता। 75 वर्ष की आयु प्राप्त करने पर वह संसार से विरक्त होकर सन्यास आश्रम में प्रवेश कर अन्तिम पुरुषार्थ - मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न करता। इस प्रकार आश्रम-व्यवस्था के माध्यम से व्यक्ति अपने जीवन काल में चार पुरुषार्थ - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त करने की दिशा में आगे बढ़ता।

Notes

(ii) जाति व्यवस्था → भारतीय समाज हजारों छोटे जातीय और उप-जातीय समूहों में बंटा है, जिनकी सदस्यता का आधार व्यक्ति के गुण एवं स्वभाव नहीं होकर जन्म है। भारतीय समाज में कुलान्तर में स्तरीकरण के आधार के रूप में गुण तथा स्वभाव का स्थान जन्म ने ले लिया। परिणाम यह हुआ कि वर्ण-व्यवस्था जाति-व्यवस्था के रूप में बदल गयी। प्रत्येक वर्ण में जातियां बढ़ती गयीं और जाति की सब सदस्यता पूर्णतः जन्म पर आधारित हो गयी। यद्यपि वर्ण-परिवर्तन तो फिर भी सम्भव था, परन्तु एक जाति की सदस्यता छोड़कर किसी अन्य जाति में पहुँचना प्रायः असम्भव है।

(iv) संयुक्त परिवार → बहुत प्राचीन काल से ही भारतीय समाज की इकाई वास्तव में संयुक्त-परिवार ही रहा है, न कि व्यक्ति। संयुक्त-परिवार भारतीय संस्कृति के आदर्श तत्वों और समूह-कल्याण के सुन्दर आदर्श को प्रस्तुत करता है। यह जातिगत नियमों के पालन एवं परम्परागत आदर्शों के अनुरूप कार्य करने का विशेषतः प्रयत्न करता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय समाज के कुछ ऐसे परम्परागत आधार रहे हैं जिन्होंने समाज में समन्वयकारी प्रवृत्तियों के विकास में योग दिया। इन आधारों ने व्यक्ति की उन्नति के साथ-साथ समाज के विकास में भी सहायता पहुँचायी। भारतीय सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित उपरोक्त बातों ने व्यक्ति को समन्वित जीवन व्यतीत करने हेतु प्रोत्साहित किया, उसे यह सोचने और समझने में सहायता प्रदान की कि वह केवल स्वयं के लिए ही नहीं जीता है, उसका एकमात्र उद्देश्य रोटी, कपड़ा और मकान ही नहीं है। वह यह जानता है कि इस जीवन के आगे भी कुछ है, वह आत्मा की अमरता, कर्मवाद और पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास करता है, पंच महायज्ञों की धारणा पर जोर देता है तथा पुरुषार्थ के सिद्धान्त के अनुरूप लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रयत्न करता है।